



हिन्दी मिथकीय नाटक : एक अनुशीलन

डॉ राजेन्द्र गंगाधरराव मालोकर
हिन्दी विभाग प्रमुख
श्री निकेतन आर्ट्स कॉमर्स कालेज, नागपुर (महाराष्ट्र)

सार

मिथक परंपराओं पर आधारित होते हैं, कुछ की उत्पत्ति तथ्यात्मक होती है, जबकि अन्य पूरी तरह से गढ़ी जाती हैं। कुछ मिथक एक निश्चित स्थान या धर्म के लिए पवित्र होते हैं, और सांस्कृतिक और धार्मिक विचारों, दुनिया या किसी व्यक्ति के अस्तित्व का वर्णन और व्याख्या करते हैं। परियों की कहानियों के विपरीत, मिथकों का अक्सर सुखद अंत नहीं होता है, और उनके पात्र हमेशा सकारात्मक सबक नहीं सीखते हैं। मिथक एक मौखिक परंपरा का हिस्सा हैं, जिसका अर्थ है कि वे कई वर्षों से चले आ रहे हैं, अक्सर बदलते रहते हैं क्योंकि वे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की यात्रा करते हैं। मिथकों की उत्पत्ति बहुत समय पहले हुई थी जब लोगों ने लिखित शब्द का उपयोग करना शुरू किया था। पहले पाठ में अधिकांश विषय शामिल थे जैसे कि दुनिया कैसे बनाई गई, लोग कैसे अस्तित्व में आए, मृत्यु के बाद, या जीवन में मृत्यु क्यों महत्वपूर्ण है। कुछ प्रसिद्ध मिथक निम्नलिखित संस्कृतियों से आते हैं: ग्रीक, रोमन, मिस्र, इज़राइल, नॉर्स, चीनी और मूल अमेरिकी।

कुंजी शब्द: मिथक परंपराओं, नाटक, काव्य

प्रस्तावना

रम्परिक सन्दर्भ में, नाटक, काव्य का एक रूप है (दृश्यकाव्य)। जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक में श्रव्य काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नाट्यशास्त्र में लोक चेतना को नाटक के लेखन और मंचन की मूल प्रेरणा माना गया है।

नाटक की गिनती काव्यों में है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं— श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। परन्तु दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण सभी दृश्य काव्यों को ही 'नाटक' कहने लगे हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद हैं— काव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के २७ भेद कहे गए हैं—

नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका,

दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाटयरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण।

साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि दृश्य काव्य के एक भेद का नाम नाटक है। दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं— रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं— रूपक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंकवीथी और प्रहसन। 'उपरूपक' के अठारह भेद हैं— नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटयरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणा, रासक, संलापक, श्रीनिगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भाणिका।



उपर्युक्त भेदों के अनुसार नाटक शब्द दृश्य काव्य मात्र के अर्थ में बोलते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक किसी ख्यात वृत्त (प्रसिद्ध आख्यान, कल्पित नहीं) की लेकर लिखाना चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख, दुःख, तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिए। नाटक का नायक धीरोदात्त तथा प्रख्यात वंश का कोई प्रतापी पुरुष या राजर्षि होना चाहिए। नाटक के प्रधान या अंगी रस शृंगार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। शांति, करुणा आदि जिस रूपक में में प्रधान हो वह नाटक नहीं कहला सकता। संधिस्थल में कोई विस्मयजनक व्यापार होना चाहिए। उपसंहार में मंगल ही दिखाया जाना चाहिए। वियोगांत नाटक संस्कृत अलंकार शास्त्र के विरुद्ध है।

नाटक शब्दावली

अभिनय आरंभ होने के पहले जो क्रिया (मंगलाचरण नांदी) होती है, उसे पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग, के उपरांत प्रधान नट या सूत्रधार, जिसे स्थापक भी कहते हैं, आकर सभा की प्रशंसा करता है फिर नट, नटी सूत्रधार इत्यादि परस्पर वार्तालाप करते हैं जिसमें खेले जानेवाले नाटक का प्रस्ताव, कवि-वंश-वर्णन आदि विषय आ जाते हैं। नाटक के इस अंश को प्रस्तावना कहते हैं। जिस इतिवृत्त को लेकर नाटक रचा जाता है उसे 'वस्तु' कहते हैं। 'वस्तु' दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु। जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसे 'अधिकारी' कहते हैं। इस अधिकारी के संबंध में जो कुछ वर्णन किया जाता है उसे 'आधिकारिक वस्तु' कहते हैं; जैसे, रामलीला में राम का चरित्र। इस अधिकारी के उपकार के लिये या रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जिसका वर्णन आ जाता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे सुग्रीव, आदि का चरित्र। 'सामने लाने' अर्थात् दृश्य संमुख उपस्थित करने को अभिनय कहते हैं। अतः अवस्थानुरूप अनुकरण या स्वाँग का नाम ही अभिनय है। अभिनय चार प्रकार का होता है— आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अंगों की चेष्टा से जो अभिनय किया जाता है उसे आंगिक, वचनों से जो किया जाता है उसे वाचिक, भेस बनाकर जो किया जाता है उसे आहार्य तथा भावों के उद्रेक से कंप, स्वेद आदि द्वारा जो होता है उसे सात्विक कहते हैं। नाटक में बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँचों के द्वारा प्रयोजन सिद्धि होती है। जो बात मुँह से कहते ही चारों ओर फैल जाय और फलसिद्धि का प्रथम कारण हो उसे बीज कहते हैं, जैसे वेणीसंहार नाटक में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साहवाक्य द्रौपदी के केशमोजन का कारण होने के कारण बीज है। कोई एक बात पूरी होने पर दूसरे वाक्य से उसका संबंध न रहने पर भी उसमें ऐसे वाक्य लाना जिनकी दूसरे वाक्य के साथ असंगति न हो 'बिंदु' है। बीच में किसी व्यापक प्रसंग के वर्णन को पताका कहते हैं— जैसे उत्तरचरित में सुग्रीव का और अभिज्ञान- शांकुतल में विदूषक का चरित्रवर्णन। एक देश व्यापी चरित्रवर्णन को प्रकरी कहते हैं। आरंभ की हुई क्रिया की फलसिद्धि के लिये जो कुछ किया जाय उसे कार्य कहते हैं; जैसे, रामलीला में रावण वध। किसी एक विषय की चर्चा हो रही हो, इसी बीच में कोई दूसरा विषय उपस्थित होकर पहले विषय से मेल में मालूम हो वहाँ पताका स्थान होता है, जैसे, रामचरित में राम सीता से कह रहे हैं—हे प्रिये ! तुम्हारी कोई बात मुझे असह्य नहीं, यदि असह्य है तो केवल तुम्हारा विरह, इसी बीच में प्रतिहारी आकर कहता है : देव ! दुर्मुख उपस्थित। यहाँ ' उपस्थित' शब्द से 'विरह उपस्थित' ऐसी प्रतीत होता है और एक प्रकार का चमत्कार मालूम होता है। संस्कृत साहित्य में नाटक संबंधी ऐसे ही अनेक कौशलों की उद्भावना की गई है और अनेक प्रकार के विभेद दिखाए गए हैं।

आजकल देशभाषाओं में जो नए नाटक लिखे जाते हैं उनमें संस्कृत नाटकों के सब नियमों का पालन या विषयों का समावेश अनावश्यक समझा जाता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखते हैं—'संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में उनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर नाटक लिखना व्यर्थ है; क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।

अध्ययन का उद्देश्य

1. नाटक, काव्य के अध्ययन के लिए.
2. मिथक परंपराओं पर आधारित के अध्ययन के लिए.



कथावस्तु

अंग्रेजी में इसे 'प्लॉट' की संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ 'आधार' या 'भूमि' है। नाटक की कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या सामाजिक हो सकती है। कथा तो सभी प्रबंधात्मक रचनाओं की रीढ़ होती है (नाटक भी क्योंकि प्रबंधात्मक रचना है)। भारतीय आचार्यों ने नाटक में तीन प्रकार की कथाओं का निर्धारण किया है –

- (१) प्रख्यात
- (२) उत्पाद्य
- (३) मिश्र प्रख्यात कथा।

प्रख्यात कथा –

प्रख्यात कथा इतिहास, पुराण से प्राप्त होती है। जब उत्पाद्य कथा कल्पना पराश्रित होती है, मिश्र कथा कहलाती है। इतिहास और कथा दोनों का योग रहता है। इन कथा आधारों के बाद नाटक कथा को मुख्य तथा गौण अथवा प्रासंगिक भेदों में बांटा जाता है, इनमें से प्रासंगिक के भी आगे पताका और प्रकरी है। पताका प्रासंगिक कथावस्तु मुख्य कथा के साथ अंत तक चलती है जब प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त नाटक की कथा के विकास हेतु कार्य व्यापार की पांच अवस्थाएं प्रारंभ प्रयत्न, प्राप्तयासा, नियताप्ति और फलागम होती है। इसके अतिरिक्त नाटक में पांच संधियों का प्रयोग भी किया जाता है। वास्तव में नाटक को अपनी कथावस्तु की योजना में पात्रों और घटनाओं में इस रूप में संगति बैठानी होती है कि पात्र कार्य व्यापार को अच्छे ढंग से अभिव्यक्त कर सके। नाटककार को ऐसे प्रसंग कथा में नहीं रखनी चाहिए जो मंच के संयोग ना हो यदि कुछ प्रसंग बहुत आवश्यक है तो नाटककार को उसकी सूचना कथा में दे देनी चाहिए। नाटक की कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या सामाजिक हो सकती है।

पात्र

नाटक में नाटक का अपने विचारों, भावों आदि का प्रतिपादन पात्रों के माध्यम से ही करना होता है। अतः नाटक में पात्रों का विशेष स्थान होता है। प्रमुख पात्र अथवा नायक कला का अधिकारी होता है तथा समाज को उचित दशा तक ले जाने वाला होता है। भारतीय परंपरा के अनुसार वह विनयी, सुंदर, शालीनवान, त्यागी, उच्च कुलीन होना चाहिए। किंतु आज नाटकों में किसान, मजदूर आदि कोई भी पात्र हो सकता है। पात्रों के संदर्भ में नाटककार को केवल उन्हीं पात्रों की सृष्टि करनी चाहिए जो घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा नाटक के चरित्र पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं।

पात्रों का सजीव और प्रभावशाली चरित्र ही नाटक की जान होता है। कथावस्तु के अनुरूप नायक धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शांत या धीरोद्धत हो सकता है।

प्राचीन काल

भारत में अभिनय-कला और रंगमंच का वैदिक काल में ही निर्माण हो चुका था। तत्पश्चात् संस्कृत रंगमंच तो अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था-भरत मुनि का नाट्यशास्त्र इसका प्रमाण है। बहुत प्राचीन समय में भारत में संस्कृत नाटक धार्मिक अवसरों, सांस्कृतिक पर्वों, सामाजिक समारोहों एवं राजकीय बोलचाल की भाषा नहीं रही तो संस्कृत नाटकों की मंचीकरण समाप्त-सा हो गया।

भारतवर्ष में नाटकों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से हैं। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र बहुत पुराना है। रामायण, महाभारत, हरिवंश इत्यादि में नट और नाटक का उल्लेख है। पाणिनि ने 'शिलाली' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्रकारों के नाम लिए हैं। शिलाली का नाम शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और सामवेदीय अनुपद सूत्र में मिलता है। विद्वानों ने ज्योतिष की गणना के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को ४००० वर्ष से ऊपर का बतलाया है। अतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह राय कि ग्रीस या यूनान में ही सबसे पहले नाटक का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। हरिवंश में लिखा है कि जब प्रद्युम्न, सांब आदि यादव राजकुमार वज्रनाभ के पुर में गए थे तब वहाँ उन्होंने रामजन्म और रंभाभिसार नाटक खेले थे। पहले उन्होंने नेपथ्य बाँधा था जिसके भीतर से स्त्रियों ने मधुर स्वर से गान किया था।



शूर नामक यादव रावण बना था, मनोवती नाम की स्त्री रंभा बनी थी, प्रद्युम्न नलकूबर और सांब विदूषक बने थे। विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि हिंदुओं ने अपने यहाँ नाटक का प्रादुर्भाव अपने आप किया था। प्राचीन हिंदू राजा बड़ी बड़ी रंगशालाएँ बनवाते थे। मध्यप्रदेश में सरगुजा एक पहाड़ी स्थान है, वहाँ एक गुफा के भीतर इस प्रकार की एक रंगशाला के चिह्न पाए गए हैं। यह ठीक है कि यूनानियों के आने के पूर्व के संस्कृत नाटक आजकल नहीं मिलते हैं, पर इस बात से इनका अभाव, इतने प्रमाणों के रहते, नहीं माना जा सकता। संभव है, कलासंपन्न युनानी जाति से जब हिंदू जाति का मिलन हुआ हो तब जिस प्रकार कुछ और और बातें एक ने दूसरे की ग्रहण की। इसी प्रकार नाटक के संबंध में कुछ बातें हिंदुओं ने भी अपने यहाँ ली हों। बाह्यपटी का 'जवनिका' (कभी कभी 'यवनिका') नाम देख कुछ लोग यवन संसर्ग सूचित करते हैं। अंकों में जो 'दृश्य' संस्कृत नाटकों में आए हैं उनसे अनुमान होता है कि इन पटों पर चित्र बने रहते थे। अस्तु अधिक से अधिक इस विषय में यही कहा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में जो अभिनय हुआ करते थे। उनमें चित्रपट काम में नहीं लाए जाते थे। सिकंदर के आने के पीछे उनका प्रचार हुआ। अब भी रामलीला, रासलीला बिना परदों के होती ही हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं में लोकतंत्र का उदय हुआ। यह विचित्र संयोग है कि मुस्लिमकाल में जहाँ शासकों की धर्मकट्टरता ने भारत की साहित्यिक रंग-परम्परा को तोड़ डाला वहाँ लोकभाषाओं में लोकमंच का अच्छा प्रसार हुआ। रासलीला, रामलीला तथा नौटंकी आदि के रूप में लोकधर्मी नाट्यमंच बना रहा। भक्तिकाल में एक ओर तो ब्रज प्रदेश में कृष्ण की रासलीलाओं का ब्रजभाषा में अत्यधिक प्रचलन हुआ और दूसरी ओर विजयदशमी के अवसर पर समूचे भारत के छोटे-बड़े नगरों में रामलीला बड़ी धूमधाम से मनाई जाने लगी।

साहित्यिक दृष्टि से इस मध्यकाल में कुछ संस्कृत नाटकों के पद्यबद्ध हिन्दी छायानुवाद भी हुए, जैसे नेवाज कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल', सोमनाथ कृत 'मालती-माधव', हृदयरामचरित 'हनुमन्नाटक' आदि; कुछ मौलिक पद्यबद्ध संवादात्मक रचनाएँ भी हुईं, जैसे लछिराम कृत 'करुणाभरण', रघुराम नागर कृत 'सभासार' (नाटक), गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्नविजय' आदि; पर इनमें नाटकीय पद्धति का पूर्णतया निर्वाह नहीं हुआ। ये केवल संवादात्मक रचनाएँ ही कही जा सकती हैं।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि तथा साहित्यिक रचनाओं के अभाव के कारण मध्यकाल में साहित्यिक रंगकर्म की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। सच तो यह है कि आधुनिक काल में व्यावसायिक तथा साहित्यिक रंगमंच के उदय से पूर्व हमारे देश में रामलीला, नौटंकी आदि के लोकमंच ने ही चार-पाँच सौ वर्षों तक हिन्दी रंगमंच को जीवित रखा। यह लोकमंच-परम्परा आज तक विभिन्न रूपों में समूचे देश में वर्तमान है। उत्तर भारत में रामलीलाओं के अतिरिक्त महाभारत पर आधारित 'वीर अभिमन्यु', 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि ड्रामे तथा 'रूप-बसंत', 'हीर-राँझा', 'हकीकतराय', 'बिल्वामंगल' आदि नौटंकियाँ आज तक प्रचलित हैं।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ रंगमंच को प्रोत्साहन मिला। फलतः समूचे भारत में व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ स्थापित हुईं। नाट्यारंगन की प्रवृत्ति सर्वप्रथम बँगला में दिखाई दी। सन् 1835 ई. के आसपास कलकत्ता में कई अव्यावसायिक रंगशालाओं का निर्माण हुआ। कलकत्ता के कुछ सम्प्रान्त परिवारों और रईसों ने इनके निर्माण में योग दिया था और दूसरी ओर व्यावसायिक नाटक मंडलियों के असाहित्यिक प्रयास से अलग था। बँगला के इस नाट्य-सृजन और नाट्यारंगन का अध्ययन इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रंगांदोलन को इसी से दशा, दिशा और प्रेरणा मिली थी। बँगला के इस आरम्भिक साहित्यिक प्रयास में जो नाटक रचे गए वे मूल संस्कृत या अंग्रेजी नाटकों के छायानुवाद या रूपान्तर थे। स्पष्ट है कि भारतेन्दु का आरम्भिक प्रयास भी संस्कृत नाटकों के छायानुवाद का ही था।

हिन्दी रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों में सबसे पहला हिन्दी गीतिनाट्य अमानत कृत 'इंदर सभा' कहा जा सकता है जो सन् 1853 ई. में लखनऊ के नवाब वाजिद अलीशाह के दरबार में खेला गया था। इसमें उर्दू-शैली का वैसा ही प्रयोग



था जैसा पारसी नाटक मंडलियों ने अपने नाटकों में अपनाया। सन् 1862 ई. में काशी में 'जानकी मंगल' नामक विशुद्ध हिन्दी नाटक खेला गया था।

उपर्युक्त साहित्यिक रंगमंच के उपर्युक्त छुटपुट प्रयास से बहुत आगे बढ़कर पारसी मंडलियों-ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, एल्फिंस्टन थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल तथा न्यू अल्फ्रेड कम्पनी आदि-ने व्यावसायिक रंगमंच बनाया। सर्वप्रथम बंबई और बाद में हैदराबाद, लखनऊ, बनारस, दिल्ली लाहौर आदि कई केन्द्रों और स्थानों से ये कम्पनियाँ देश-भर में घूम-घूमकर हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन करने लगीं। इन पारसी नाटक मंडलियों के लिए पहले-पहल नसरबानी खान साहब, रौनक बनारसी, विनायक प्रसाद 'तालिब', 'अहसन' आदि लेखकों ने नाटक लिखे। जनता का सस्ता मनोरंजन और धनोपार्जन ही इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य था।

इसी से उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों से इनका विशेष प्रयोजन नहीं था। धार्मिक-पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान नाटकों को ही ये अपने रंगमंच पर दिखाती थीं। सस्ते और अश्लील प्रदर्शन करने में इन्हें जरा भी संकोच नहीं था। इसी से जनता की रुचि भ्रष्ट करने का दोष इन पर लगाया जाता है। भ्रमण के कारण इन कम्पनियों का रंगमंच भी इनके साथ घूमता रहता था।

किसी स्थायी रंगमंच की स्थापना इनके द्वारा भी संभव नहीं थी। रंगमंच का ढाँचा बल्लियों द्वारा निर्मित किया जाता था और स्टेज पर चित्र-विचित्र पर्दे लटका दिए जाते थे। भड़कीली-चटकीली वेशभूषा, पर्दों की नई-नई चित्रकारी तथा चमत्कारपूर्ण दृश्य-विधान की ओर इनका अधिक ध्यान रहता था। पर्दों को दृश्यों के अनुसार उठाया-गिराया जाता था। संगीत-वाद्य का आयोजन स्टेज के अगले भाग में होता था। गंभीर दृश्यों के बीच-बीच में भी भद्दे हास्यपूर्ण दृश्य जानबूझकर रखे जाते थे। बीच-बीच में शायरी, गजलें और तुकबन्दी खूब चलती थी। भाषा उर्दू-हिन्दी का मिश्रित रूप थी। संवाद पद्य-रूप तथा तुकपूर्ण खूब होते थे।

राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर आदि कुछ ऐसे नाटककार भी हुए हैं जिन्होंने पारसी रंगमंच को कुछ साहित्यिक पुट देकर सुधारने का प्रयत्न किया है और हिन्दी को इस व्यावसायिक रंगमंच पर लाने की चेष्टा की। पर व्यावसायिक वृत्ति के कारण संभवतः इस रंगमंच पर सुधार संभव नहीं था। इसी से इन नाटककारों को भी व्यावसायिक बन जाना पड़ा। इस प्रकार पारसी रंगमंच न विकसित हो सका, न स्थायी ही बन सका।

निष्कर्ष

हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य हैं अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्वों का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का 'शकुन्तला', कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' राजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय' नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अतः वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

संदर्भ

1. नारायण प्रसाद बेताब, बेताब चरित (राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नया दिल्ली, 2002 (1937)), 74 (इसके बाद



ईसा पूर्व)। जब तक सभी अनुवाद मेरे अपने हैं अन्यथा नोट किया गया।

2. विद्यावती लक्ष्मणराव नमरा, हिंदी रंगमंच और पंडित नारायणप्रसाद बेताब (विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1972), 205 ff नामरा, बेताब की बेटियों में से एक, उस दौरान उनकी निजी सहायक थीं उनके जीवन के अंतिम 10 वर्ष।
3. एम माधव प्रसाद, आइडियोलॉजी ऑफ द हिंदी फिल्म: ए हिस्टोरिकल कंस्ट्रक्शन (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1998), पीपी 30-31; 64. रोजी को भी देखें थॉमस,
4. 'नॉट क्राइट (पर्ल) व्हाइट: फीयरलेस नादिया' इन रमिंदर कौर और अजय जे सिन्हा (एड्स), बॉलीवुड: पॉपुलर इंडियन सिनेमा थ्रू ए ट्रांसनेशनल लेंस (सेज, नई दिल्ली, 2005), पृष्ठ 40।
5. गीता कपूर, 'भारतीय सिनेमा में पौराणिक सामग्री', कला जर्नल और विचार, पीपी 14-15 (जुलाई-दिसंबर 1987), पी 81।
6. प्रसाद, 'द टाईज़ दैट बिंड' (1980), पृष्ठ 135 में कक्कड़ का हवाला देते हुए।
7. बस्करन (संपा) का हवाला देते हुए, द इवांस रिपोर्ट ऑन इंडियन सिनेमा 1921 (एनडी), पी 4।
8. रमिंदर कौर, परफॉर्मेटिव पॉलिटिक्स एंड द कल्चर्स ऑफ हिंदुइज्म, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, 2003, पीपी 18-19।
9. अनुराधा कपूर, 'पारसी में देवताओं और नायकों का प्रतिनिधित्व वी डालमिया और एच वॉन स्टिटेनक्रॉन (एड्स) में पौराणिक नाटक, हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व: धार्मिक परंपराओं का निर्माण और राष्ट्रीय पहचान, ऋषि प्रकाशन, दिल्ली, 1995, पृष्ठ 402।
10. आशीष राजाध्यक्ष, 'द फाल्के एरा: कंफ्लिक्ट ऑफ ट्रेडिशनल फॉर्म एंड मॉडर्न टेक्नोलॉजी', जर्नल ऑफ आर्ट्स एंड आइडियाज, पीपी 14-15 (जुलाई-दिसंबर 1987), पी 63।
11. 10 प्रसाद, 18-19 में चर्चा देखें। इसके अलावा, काजरी जैन, 'स्थानीयता के आंकड़े एंड ट्रेडिशन: कमर्शियल सिनेमा एंड द नेटवर्क्स ऑफ विजुअल प्रिंट कैपिटलिज्म इन महाराष्ट्र' बॉलीवुड में, पृष्ठ 76।
12. राजाध्यक्ष, पृष्ठ 59।
13. राजाध्यक्ष, पृष्ठ 60, फाल्के, जैसा कि सर्वविदित है, ने अपनी पसंद को सही ठहराया। स्वदेशी होने के आधार पर पौराणिक।
14. 13 जैन, पृ. 70-71. 14 मार्क ज्यर्गेसमेयर, रिलिजन एज सोशल विजन: द मूवमेंट अगेंस्ट ट्वेंटिएथ-सेंचुरी पंजाब में अस्पृश्यता, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, बर्कले, 1982, पीपी 115-23।
15. नंदिनी गुप्ता, द पॉलिटिक्स ऑफ द अर्बन पुअर इन अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी भारत, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 2001, पीपी 147-51।